Gyanvividha, Vol.-3; Issue-1 (Jan.-March) 2026 : PP-135-138

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-4.5
Vol.-3; Issue-1 (Jan.-March) 2026
Page No.- 135-138
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

Author's :

डॉ. प्रीति यादव

पूर्व-शोधच्छात्र,संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्विद्यालय, दिल्ली.

Corresponding Author :

डॉ. प्रीति यादव

पूर्व-शोधच्छात्र,संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्विद्यालय, दिल्ली.

जैनदर्शन में तत्त्वस्वरूप एवं तत्त्वसिद्धि

सृष्टि की उत्पत्ति किन तत्त्वों के हुई? इस प्रश्न के उत्तर की जिज्ञासा ने दर्शन की दीर्घ परम्परा को जन्म दिया। भारतीय दर्शन परम्परा की 9 शाखाओं की उत्पत्ति के मूल में भी इसी प्रकार के प्रश्नो को देखा जा सकता है, जिसका एक महत्त्वपूर्ण अंग है तत्त्व-मीमांसा। तत्त्व-मीमांसा किसी भी दर्शन का आधार मानी जाती है इसलिए सर्वप्रथम इसी विषय पर विचार करना उचित है।

तत्त्व क्या है? व्याकरणिक दृष्टि से विचार किया जाए तो **"तस्य भावस्तत्त्वम्"**[1] अर्थात् वस्तु के स्वरूप को तत्त्व कहते हैं। 'तद्' पद यहाँ वस्तुमात्र का वाचक सर्वनाम है, जिसमें भावार्थक 'त्व' प्रत्यय के योग से 'तत्त्व' शब्द निष्पन्न हुआ। भाषा में सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं। वस्तु के स्वरूप को और स्वरूपभूत वस्तु को तत्त्व कहा गया है। व्याकरणदर्शन में 'तत्त्व' सत्ता जाति के रूप में प्रतिपादित है- **"सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः।**[2] सत्ता नित्य एवं परमात्मस्वरूपा है, जो 'त्व' आदि प्रत्ययों का वाच्य है। जहाँ सब कुछ तत्त्वरूप है।

दर्शन के क्षेत्र में तत्त्व शब्द गम्भीर चिन्तन को समाहित किए हुए है। चिन्तन मनन का प्रारम्भ ही तत्त्व से होता है। 'तद्' शब्द की सापेक्ष स्थिति होने के कारण उसके अर्थों में वैविध्य देखा जाता है।

जैनदर्शन परम्परा में विभिन्न प्रसङ्गों एवं स्थलों पर सत्, सत्त्व, तत्त्व, तत्त्वार्थ, अर्थ, पदार्थ और द्रव्य इन शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में हुआ है। अतः ये शब्द पर्यायवाची हैं। आचार्य प्रवर वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में तत्त्वार्थ, सत्, द्रव्य शब्दों का प्रयोग तत्त्व अर्थ में किया है। इसलिए जैनदर्शन में जो तत्त्व है वह सत् है और जो सत् है वह द्रव्य है। केवल शब्द प्रयोग में अन्तर प्रतीत होता है, भाव में किसी भी प्रकार का कोई अन्तर नहीं है।

प्रश्न है कि सत् क्या है? बौद्धदर्शनानुसार विश्व में समस्त तत्त्व क्षणिक हैं। बौद्ध दृष्टि में जो क्षणिक है वही सत् है- यत्क्षणिकं तत् सत्। इसके विपरीत वेदान्तदर्शन के अनुसार जो अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर एवं एकरूप है वही सत् है, शेष सब कुछ मिथ्या है- ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। बौद्धदर्शन एवं वेदान्तदर्शन एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। बौद्धमत सर्वथा

क्षणिकवादी एकान्त है वहीं वेदान्त सर्वथा नित्यवादी है। दोनों ही नदी के दो विपरीत तटों की भाँति हैं। जैनमत सर्वथा एकान्त विरोधी है। वह परिणामी नित्यवाद को मानने वाला एकमात्र दर्शन है। सत् क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में वे स्पष्ट कथन करते हैं कि जो उत्पाद, ध्रौव्य एवं व्यय तीनों से युक्त पदार्थ है वह सत् है, वही सत्य है तथा तत्त्व और द्रव्य वही है- **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।**[3] उत्पाद और व्यय के अभाव में ध्रौव्य कदापि नहीं रह सकता एवं ध्रौव्य के अभाव में उत्पाद एवं व्यय का भाव भी नहीं पाया जाता है। एक ही वस्तु में एक ही समय में उत्पाद भी हो रहा और ध्रौव्य भी है तथा व्यय का भाव भी है। जैनदर्शनानुसार विश्व की प्रत्येक वस्तु द्रव्य दृष्टि से नित्य है तथा पर्यायदृष्टि से अनित्य। द्रव्यदृष्टि से नित्यता का भाव है तथा पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद एवं व्यय देखे जाते हैं। तत्त्वरूप से वस्तु परिणामी नित्य है। किन्तु एकांतरूप से नित्य और अनित्य नहीं है। सर्वथा ऐकान्तिक पक्ष दोषपूर्ण है जिसका विवेचन किया जाना है।

जैनाचार्य उमास्वाति अपने ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्व का सीधा लक्षण न करके जीवादि सात पदार्थों को ही तत्त्व कहते हैं- **जीवाजीवास्त्रवबन्ध-सवंर-निर्जरामोक्षस्तत्त्वम्।**[4] यहाँ प्रमेय के अर्थ में तत्त्व का प्रयोग है। तत्त्व शब्द में प्रकृतिभूत 'तद्' शब्द पर आचार्य अकलङ्कदेव ने विशेष विचारकिया है- **'तत्' इत्येषा प्रकृतिः सामान्याभिधायिनी, सर्वनामत्वात् प्रत्ययश्च भाव उत्पद्यते। कस्य भावे? तदित्यनेन योऽर्थ उच्यते। कश्चासौ? सर्वोऽर्थः। अतस्तदपेक्षत्वाद् भावस्य भावसामान्यमुच्यते तत्त्वशब्देन।**[5]

अर्थात् 'तद्' सर्वनाम होने से सामान्य अर्थमात्र का वाचक है और उसके द्वारा वाच्य अर्थ के भाव में 'त्व' प्रत्यय के जुड़ने पर 'तत्त्व' शब्द निष्पन्न होता है। भाव को तत् पदार्थ की अपेक्षा है अतः तत्त्व शब्द का अर्थ भाव सामान्य है। जो अर्थ जैसा है उसका वैसा प्रतीत होना तत्त्व है।

इस पर सामान्य शङ्का होती है कि तत्त्व शब्द भाववाचक है तथा जीवादि का द्रव्यवाचक होने से उनका सामानाधिकरण्य कैसे हो सकता है? इस प्रकार की अनुपपत्ति का सामाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि भाव और भाववान् में भेद नहीं माना जाता। अर्थात् भाव द्रव्य से भिन्न नहीं है अपितु द्रव्य का स्वरूप है।[6] जिस प्रकार औपचारिक रूप से ज्ञान ही आत्मा कहा जाता है। उसी प्रकार द्रव्य को तत्त्व कहा गया है।[7]

इस प्रकार सत्तापरक अर्थ वाला 'तत्त्व' शब्द लाक्षणिक रूप से पदार्थपरक अर्थ भी प्रकट करता है। इसी दृष्टि से भिन्न-भिन्न दर्शनों ने भिन्न तत्त्वों को माना है। जैसे सांख्य ने 25 तत्त्व, योग ने 26, अद्वैतवेदान्त ने एक (ब्रह्म), विशिष्टाद्वैत ने 3, मध्वाचार्य ने 2, वैशेषिक ने 7, न्याय ने 16 तथा जैन दर्शन ने 7 तत्त्व माने हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न दर्शनों ने तत्त्वों की भिन्न-भिन्न संख्या का उल्लेख किया है।

'तत्त्व' पद का स्वरूपनिरूपण मुख्यतः तीन प्रकार से होता है। यौगिक, योगरूढ एवं रूढयौगिक रूप में 'तत्त्व' पद का घटक 'तद्' प्रसङ्गानुसार प्रतिपाद्य अर्थ का वाचक है। योगरूढ अर्थ में तत्त्व सामान्य वस्तुस्वरूप का नाम है। अतः उसे 'सार' या वस्तु स्वभाव भी कहा जाता है। 'तद्' से मूल पदार्थ को ग्रहण कर 'त्व' से उसकी सत्ता का अर्थ लिया गया है। जब पदार्थ को तत्त्व कहा जाता है तो वह रूढ अर्थ है। जैनाचार्य अकलङ्कदेव उसे लाक्षणिक अर्थ मानते हैं। यह रूढा लक्षणा की लाक्षणिक शक्ति का प्रयोग है। भर्तृहरि ने इसी अर्थ को गृहीत कर द्रव्य के लिए 'तत्त्व' शब्द का प्रयोग किया है-

आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि।
द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम्।।[8]

अर्थात् आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर, तत्त्व आदि सब द्रव्य के पर्याय हैं तथा वह द्रव्य नित्य है। इस प्रकार दर्शनों में द्रव्य अथवा तत्त्व दोनों शब्दों में अधिक भेद दिखाई नहीं देता है।

तत्त्वों की संख्या : तत्त्वों की संख्या के विषय में सामान्य जिज्ञासा है कि जैनदर्शन प्रमुख रूप से कितने तत्त्वों को मानता है? इस जिज्ञासा के निवारणार्थ देवेन्द्र मुनि महाराज के अनुसार जैनदर्शन में तत्त्व-विभाजन की 3 शैलियाँ हैं। प्रथम शैली के अनुसार तत्त्व दो हैं- चेतनतत्त्व जीव तथा जडतत्त्व अजीव। दूसरी शैली के अनुसार तत्त्वों की संख्या 7 है- जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।[9] अन्तिम तीसरी शैली के अनुसार पूर्वोक्त 7 तत्त्वों में पाप और

पुण्य को भी जोड़ दिया जाता है। जिसके अनुसार तत्त्वों की संख्या 9 है। दार्शनिक ग्रन्थों में प्रथम और द्वितीय शैली उपलब्ध होती है तथा आगम ग्रन्थों व साहित्य में तृतीय शैली।

तत्त्वों का क्रम : तत्त्व की परिभाषा एवं संख्या के पश्चात् यह जिज्ञासा होना अत्यन्त स्वाभाविक है कि तत्त्वों में सर्वप्रथम जीव को ही क्यों रखा गया है? या तत्त्वों का इसी क्रम में कथन क्यों किया गया है? प्रथम प्रश्न का उत्तर है कि तत्त्वों में ज्ञाता, पुद्गल का उपभोक्ता, शुभ और अशुभ कर्मों का कर्त्ता तथा संसार और मोक्ष के लिए प्रवृत्ति का विधाता जीव है। एतदर्थ सभी 7 तत्त्वों में जीव का सर्वप्रथम कथन किया गया है। जीव की गति, स्थिति, अवगाहन तथा उपयोग आदि में उपकारक अजीव तत्त्व है। अतः जीव के पश्चात् अजीव का कथन किया गया।

जीव और पुद्गल का संयोग ही संसार है। उस संसार के आस्रव और बन्ध दो कारण हैं।[10] अतः अजीव तत्त्व के पश्चात् आस्रव और बन्ध को स्थान दिया गया। जीव और पुद्गल का वियोग मोक्ष है तथा जीवन का अन्तिम लक्ष्य भी मोक्ष ही है। इसका कारण मोक्ष को अन्तिम स्थान पर रखा गया। संवर और निर्जरा ये तत्त्व मोक्ष के कारण हैं। कर्म की पूर्ण निर्जरा होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः संवर, निर्जरा और मोक्ष यह क्रम रखा गया है।

स्याद्वाद द्वारा तत्त्व-सिद्धि : आचार्य विद्यानन्द के अनुसार सौत्रान्तिक बौद्धों के हेतुवाद- केवल हेतुमात्र से तत्त्व-सिद्धि होना संभव नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षादि को स्वीकार किए बिना केवल हेतु से सभी पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकते। ब्रह्माद्वैतवादियों के आगममात्र से भी सभी पदार्थों की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि श्रुति के अर्थ के वास्तविक ज्ञान के लिए भी आपको श्रोत्रज प्रत्यक्ष को प्रमाणरूप में स्वीकार करना ही होगा तथा अनुमान प्रमाण को भी मानना पड़ेगा। इसी क्रम में दो प्रमाण प्रत्यक्ष एवं अनुमान को मानने वाले बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन के अनुसार भी निरपेक्षरूप से केवल प्रमाणद्वय से सभी तत्त्वों की सिद्धि संभव नहीं हो सकती क्योंकि प्रमाणद्वय (प्रत्यक्ष एवं अनुमान) की परीधि से परे कुछ अतीन्द्रिय पदार्थ ऐसे भी हैं, जिनकी सिद्धि बिना आगम के संभव नहीं है।

इस प्रकार न केवल हेतु, न केवल आगम और न ही केवल प्रमाणद्वय (प्रत्यक्ष एवं अनुमान) से सभी तत्त्वों की सिद्धि संभव है क्योंकि ऐसा करने पर विभिन्न दोष उत्पन्न होने लगते है। इसे आचार्य स्याद्वाद प्रक्रिया-रूप इस प्रकार कहते हैं-

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।।[11]

आचार्य ने हेतुवाद तथा आगमवाद का खण्डन किया है। अन्य दर्शन सम्प्रदायों के यहाँ हेतुसिद्धि और आगम-सिद्धि दोनों का निरपेक्ष अस्तित्व नहीं हो सकता तथा उभयैकात्म्य भी नहीं बन पाएगा क्योंकि सर्वथा विरुद्ध धर्मों का एकत्र रहना असंभव है।[12] अन्य सभी दर्शनों में निरपेक्ष भाव से वस्तु-सिद्धि का प्रयास है। उनके यहाँ स्याद्वाद प्रक्रिया का अभाव होने के कारण "कथञ्चित्' रीति से भी दोंनों पक्षों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। तथा 'अवाच्यैकांत" का प्रयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि इससे स्ववचन विरोध का प्रसंग उपस्थित होने लगेगा।[13] 'अवाच्य' शब्द के प्रयोग से ही विरोध है। इस प्रकार अन्य सभी दर्शनों में किसी प्रकार से यह व्यवस्था नहीं बन सकती है कि हम इस ज्ञान प्रक्रिया का कथन कर सके कि न ही सभी पदार्थ हेतु से सिद्ध है, न ही आगम से। निरपेक्ष रूप से तत्त्व सिद्धि किसी एक से नहीं की जा सकती। स्याद्वाद सप्तभंगी प्रक्रिया से ही इस दार्शनिक विवाद का समाधान किया जा सकता है, ऐसा जानाचार्यों का मत है। आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमांसा में सामाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात्साध्यमागमसाधितम्।।[14]

अर्थात् वाक्ता के अनाप्त होने पर जो हेतु से सिद्ध किया जाता है वह हेतु साधित (युक्ति सिद्ध) कहा जाता है। वक्ता के आप्त होने पर उनके वचनोपदेशों से जो सिद्ध किया जाता है वह आगम सिद्ध अथवा शास्त्रसिद्ध है। यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि आप्त क्या है? आचार्य विद्यानन्द आप्त को इस प्रकार परिभाषित करते हैं- **'यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तस्ततोपरोनाप्तः।।**[15]

अर्थात् जो जिस विषय में अविसवांदक है वही उस स्थान पर आप्त है एवं इससे भिन्न अनाप्त हैं। तत्त्व का यथार्थ

ज्ञान होने से आप्त के द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों में कोई विरोध न होने का नाम अविसंवाद है "**तत्त्वप्रतिपादन-मविसंवादः,तदर्थज्ञानात्।**[16] आप्त के वचन अविसंवादी होते हैं और अनाप्त के वचनों में सर्वत्र विरोध पाया जाता है। अतः अनाप्त के वचन विसंवादी होते हैं। वक्ता जहाँ आप्त होता, वहाँ उसके वचनों से साध्य की सिद्धि की जाती है तथा आप्त के वचनों से की गयी सिद्धि में किसी भी प्रकार के दोष या विरोध की संभावना नहीं रहती है। आप्त यथार्थ वक्ता होता है, उसमें यथार्थ ज्ञान आदि गुण पाये जाते हैं-**"तत्राविसंवादक एवाप्त इत्यवधार्यतो अनाप्तस्तु कदाचिदपि विसंवादक उच्यते, यथार्थज्ञानादिगुणस्य विसंवादकत्वायोगात्।**[17] किन्तु जहाँ वक्ता आप्त नहीं है वहाँ उसके वचनों पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता है। अतः उसके वचनों से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए वहाँ साध्य की सिद्धि के लिए हेतु का मानना आवश्यक है। अतः आचार्य विद्यानन्द सप्तभंगी प्रक्रिया के माध्यम से तत्त्वसिद्धि प्रस्तुत करते है।[18]

1. कथञ्चित् सभी वस्तुएँ हेतु से सिद्ध हैं क्योंकि उनमें इन्द्रिय और आप्त वचन की अपेक्षा नहीं है।
2. कथञ्चित् सभी वस्तुएँ आगम से सिद्ध हैं क्योंकि इन्द्रिय और हेतु की अपेक्षा है।
3. कथञ्चित् उभय रूप है क्योंकि क्रम से दोनों की विवक्षा है।
4. कथञ्चित् अव्यक्त हैं क्योंकि युगपत् दोनों की विवक्षा है।
5. कथञ्चित् हेतु से सिद्ध और अव्यक्त हैं क्योंकि क्रम से हेतु और अव्यक्त,युगपत् दोनों की विवक्षा है।
6. कथञ्चित् आगम से सिद्ध और अव्यक्त हैं क्योंकि क्रम से हेतु और अव्यक्त, युगपत् दोनों की विवक्षा है।
7. कथञ्चित् उभयरूप और अव्यक्त हैं क्योंकि क्रम से और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

इस प्रकार आचार्य विद्यानन्द सप्तभंगी प्रक्रिया द्वारा तत्त्वों की सिद्धि किसी भी एक प्रमाण से न मानकर अनेकान्त दृष्ट्या सभी प्रमुख प्रमाणों द्वारा आंशिक रूप से स्वीकार करते हैं।

सन्दर्भ सूची :

1. महाभाष्य,पस्पशाह्निक
2. वाक्यपदीय,3/1/34
3. तत्त्वार्थसूत्र,5/29
4. तत्त्वार्थसूत्र, 1/2
5. तत्त्वार्थवार्तिक , 1/2/4
6. भावेन भाववतो अभिधानं तदव्यतिरेकात्। सर्वार्थसिद्धि,1/2
7. न हि द्रव्याद् व्यातिरिक्तः भावोऽस्ति, अतस्तद्भावेनाध्यारोप्यते यथा ज्ञानमेवात्मेति। तत्त्वार्थवार्तिक ,1/4/29-30
8. वाक्यपदीय,3/2/1
9. जीवाजीवस्त्रवबन्ध सवंर निर्जरामोक्षस्तत्त्वम्। तत्त्वार्थसूत्र,1.2
10. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः। सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः। तत्त्वार्थसूत्र, 8/1-2
11. आप्तमीमांसा, कारिका 77
12. युक्तीतरैकान्तद्वयाभ्युपगमेपि मा भूत्. विरुद्धयोरेकत्र सर्वथासंभवात्। अष्टशती,अष्टसहस्री, पृ.357
13. तदवाच्यत्वेपि पूर्ववत् स्ववचनविरोधप्रसङ्गः। अष्टशती,अष्टसहस्री, पृ.357
14. आप्तमीमांसा, कारिका 78
15. अष्टशती,अष्टसहस्री,भाग-3, पृ. 358
16. अष्टशती,अष्टसहस्री,भाग-3, पृ. 359
17. अष्टसहस्री, पृ. 359
18. अष्टसहस्री, पृ. 371

•